ISSN - 23941022

# संस्कृति शोध संदेश

त्रैमासिक पत्रिका

वर्ष - 4 अंक - 12 फरवरी-अप्रेल 2015 पृष्ठ - 66

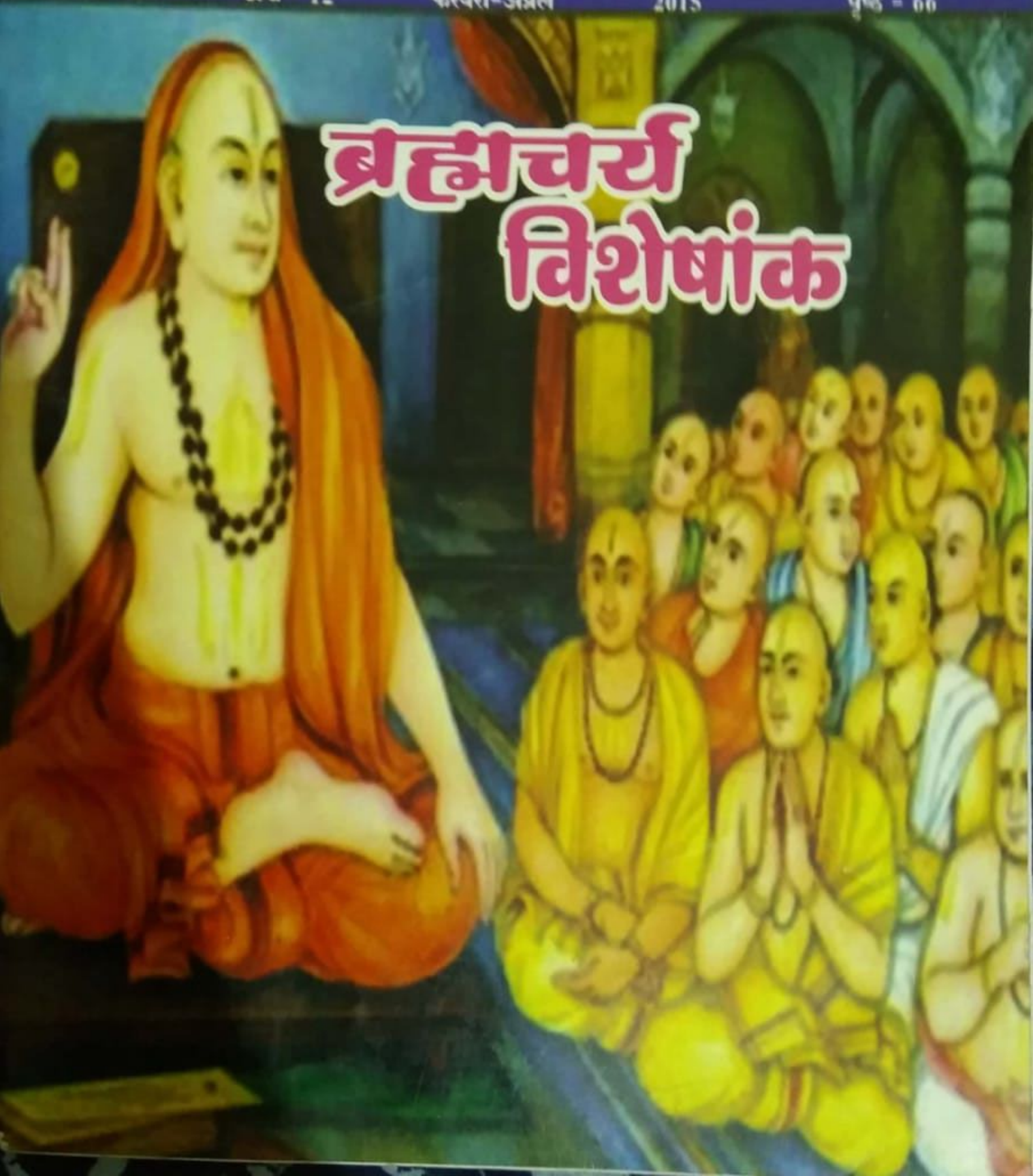

# अनुक्रमणिका


| क्रम. | विषय | | पृष्ठ सं. |
|---|---|---|---|
| 1. | **सम्पादकीय** | ० डॉ. हेमन्त कृष्ण मिश्र | 3 |
| 2. | महाकवि माघ एवं उनका काव्यशास्त्रीय वैभव | ० प्रो. डॉ. शिवकान्त झा | 9 |
| 3. | भूषणसारतत्त्वप्रकाशिकाग्रन्थस्थनामार्थ-निर्णयस्य समीक्षा वैशिष्ट्यं च | ० डॉ. प्रमोदकुमार शर्मा | 15 |
| 4. | शिक्षार्थिनां ब्रह्मचर्याश्रमः | ० डॉ. हेमन्त कृष्ण मिश्र | 25 |
| 5. | वैदिक परम्परा में ब्रह्मचर्य | ० डॉ. चित्रा इन्दोरिया | 29 |
| 6. | संयम-साधना का जीवन : ब्रह्मचर्याश्रम | ० डॉ. सुनीता पण्डा | 33 |
| 7. | ब्रह्मचर्याश्रम में गुरु-सेवा का महत्त्व | ० डॉ. अलका शर्मा | 37 |
| 8. | एकपत्नीव्रत भी ब्रह्मचर्य | ० डॉ. कुन्तल गांगुली | 43 |
| 9. | उपनिषद् साहित्य में ब्रह्मचर्य | ० डॉ. सुनीता इन्दोरिया | 47 |
| 10. | वेदोपनिषत्साहित्ये ब्रह्मचर्यतपोमहत्त्वम् | ० प्रो. डॉ. दामोदर शास्त्री | 50 |
| 11. | ब्रह्मचर्य-प्रतिज्ञा के धारक भीष्म | ० श्रीमती संगीता हरीतवाल | 53 |
| 12. | ब्रह्मचर्य : महात्मा गान्धी की दृष्टि में | ० राकेश यादव | 57 |
| 13. | महाभारतकालीन ब्रह्मचारिणी नारियाँ | ० आनन्द लाटा | 63 |

# उपनिषद् साहित्य में ब्रह्मचर्य

**० डॉ. सुनीता इन्दोरिया**

सहायक आचार्य– संस्कृत व प्राकृत विभाग,

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ (राजस्थान)

भारतीय संस्कृति दो धाराओं में समान रूप से प्रवाहित होती है– वैदिक व श्रमण संस्कृति। वेद, उपनिषद आदि इस संस्कृति के आधारभूत ग्रन्थ के रूप में मान्य हैं। श्रमण संस्कृति में जैनों के आगम एवं बौद्ध के त्रिपिटक मूल ग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठित हैं। दोनों ही संस्कृतियों में परमात्मा अथवा मोक्ष-प्राप्ति के लिये जीवन की पवित्रता को स्वीकार किया गया है। वैदिक साहित्य में वेदों के पश्चात् उपनिषदों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वेदों में यज्ञ की प्रधानता है। अध्यात्म-साधना-मार्ग की प्रमुखता होने से उपनिषदों में ब्रह्मचर्य पर विशद विवेचन मिलता है।

शाण्डिल्योपनिषद् में ब्रह्मचर्य को परिभाषित करते हुए बताया गया है– "**ब्रह्मचर्यं नाम सर्वावस्थासु मनोवाक्कायकर्मभिः सर्वत्र मैथुनत्यागः।**" सभी अवस्थाओं में मन-वचन ब्रह्मचर्य है– काय के द्वारा मैथुन का त्याग।

कठोपनिषद् (श्लोक-5, 6) में भी ब्रह्मचर्य का अर्थ 'मैथुन विरमण' किया गया है। वहाँ मैथुन के आठ अंगों का वर्णन कर उनके त्याग को ब्रह्मचर्य कहा गया है।

छान्दोग्योपनिषद् में ब्रह्मचर्य का विस्तार से वर्णन करते हुए कहा गया है– जिसे यज्ञ कहते हैं, उस ब्रह्मचर्य द्वारा आत्मा का जो ज्ञाता है, वह ब्रह्मलोक को पाता है। जिसे सत्त्रायण ऐसा कहा जाता है, वह भी ब्रह्मचर्य ही है, सत् की रक्षा ब्रह्मचर्य द्वारा ही संभव है। उपनिषदों में ब्रह्मचर्य के स्वरूप के साथ ब्रह्मचर्य की उपयोगिता पर भी प्रकाश डाला गया है। इनमें ब्रह्मचर्य को अध्यात्म व व्यवहार दोनों रूपों में उपयोगी बतलाया गया है।

**शान्ति की प्राप्ति–** जीवन में साधना का मूल लक्ष्य शान्ति प्राप्त करना है। अशान्ति की कारण वासनायें हैं। महोपनिषद् (6/44, 46) में बताया गया है कि ब्रह्मचर्य की साधना से शान्ति की उपलब्धि होती है।

**उच्च पद प्राप्ति–** महोपनिषद् (4/175) में वर्णित किया गया है कि उच्च पद की प्राप्ति उसी के लिए सम्भव है, जो वासनाओं से परे रहता है।

**विद्या की अर्हता–** पुरातन काल में विद्याएँ, लब्धियाँ, ऋद्धियाँ आदि गुरु से प्राप्त होती थीं, जिन्हें योग्य व्यक्ति को दिया जाता था। विद्या की अर्हता में बह्मचर्य का होना भी आवश्यक है।[1] क्योंकि विषयलोलुप व व्यभिचारी को ये विद्यायें देना निषिद्ध व पाप समझा जाता था।

**आत्मस्वरूप का ज्ञान–** सुबालोपनिषद् (3/6) में आत्मा को जानने के छह साधन बतायें गये हैं– सत्य, दान, तप, ब्रह्मचर्य, दान आदि। ब्रह्मचर्य का भावार्थ भी आत्मस्वरूप का ज्ञान ही है। जो व्यक्ति इसका पालन करता है, वह आत्मस्वरूप का ज्ञान कर पाता है।

**पूर्ण आयु की प्राप्ति–** छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि जो दम्पति संयम-नियम पूर्वक रहते हैं, वे पूर्ण आयु को प्राप्त करते हैं। अकाल मृत्यु को प्राप्त नहीं होते है। जिसे अनाशकायन ऐसा कहा जाता है, वह भी ब्रह्मचर्य ही है। जिस आत्मा को ब्रह्मचर्य के द्वारा प्राप्त करता है, ब्रह्मचर्य रूप साधन वाले पुरुष का आत्मा नष्ट नहीं होता, अतः अनाशकायन भी ब्रह्मचर्य है।

जिसे अरण्यायन कहते हैं, वह भी ब्रह्मचर्य ही है। क्योंकि ब्रह्मलोक में स्थित अर और ण्य नामक दोनों समुद्रों को ब्रह्मचर्य से प्राप्त करते हैं।[2]

जाबालदर्शनोपनिषाद् में ब्रह्मचर्य को व्यवहार व निश्चय दोनों रूपों में निरूपित किया गया है। व्यावहारिक दृष्टि से–

**कायेन वाचा मनसा स्त्रीणां परिविवर्जनम्।**
**ऋतौ भार्या तदा स्वस्य ब्रह्मचर्यं तदुच्यते।।**[3]

अर्थात् मन, वाणी और शरीर के द्वारा नारी संग का परित्याग अथवा एक गृहस्थ के लिये अपनी पत्नी से ही ऋतुकाल में संग करना ब्रह्मचर्य कहा गया है। ब्रह्मचर्य का

---

**संदर्भस्थल**


(1) शाण्डिल्योपनिषद्-1/1

(2) छान्दोग्योपनिषद्-8/5/1-4

(3) जाबालदर्शनोपनिषद्-1/13

नैश्चयिक रूप इस प्रकार बताया गया है–

**ब्रह्मचर्यं मनश्चारं ब्रह्मचर्यं परन्तप।**

अर्थात् कामक्रोधादि को शान्त कर मन को परब्रह्म के ध्यान में लगाये रखना सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मचर्य है।

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् (श्लोक-32) में ब्रह्मचर्य को यमों में एक माना गया है।

महोपनिषद में वासनाओं के क्षय को ही मोक्ष कहा गया है। ब्रह्मचर्य वासना-क्षय की एक प्रक्रिया है, जैसे-जैसे वासना क्षीण होती है, वैसे-वैसे साधक मोक्ष के समीप पहुँचता है।[5] उपनिषदों में आत्म-विकास के लिये बहुत से साधनों में ब्रह्मचर्य की साधना को उपयोगी एवं लाभकारी बताते हुये इसे साधना का प्रमुख अंग माना गया है।

ब्रह्मचर्य की पालना में सांसारिक भोग सबसे अधिक बाधक होते हैं। जब तक मनुष्य भोगों में रत रहता है, वह सही रूप में ब्रह्मचर्य पालन में समर्पित नहीं हो पाता है। शाण्डिल्य उपनिषद् में सर्वप्रथम सांसारिक कार्यों के प्रति अनास्था करने का उल्लेख किया गया है।

नारद परिव्राजकोपनिषद् में कहा है कि भोगों का उपयोग करने से विषयों की कामनायें कभी शान्त नहीं होतीं, भोग तो घृत द्वारा अग्नि के अधिक प्रदीप्त होने के समान, उनकी वृद्धि करते हैं। मन में उत्पन्न विकार का उपाय है– जिससे मन चञ्चल हो, उन वस्तुओं का त्याग कर देना है।

बह्मचर्य की पालना में सांसारिक भोगों में अनास्था के पश्चात् ज्ञानयोग भी आवश्यक है। ज्ञानयोग से तात्पर्य आत्म-ज्ञान से है। महोपनिषद् में ज्ञान के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहा है– तृष्णा रूपिणी भीलनी ने वासना रूपी जाल बिछा दिया है, उसमें तुम फँस गये हो। इस माया को ज्ञान रूपी तीक्ष्ण अस्त्र से काटकर अपने व्यापक रूप में उसी प्रकार स्थित होओ, जिस प्रकार बवंडर मेघों के जाल को काट डालता है।

वस्तुतः जीवन की पवित्रता व आत्म-दर्शन के लिये साधना के आवश्यक व उन्नत साधन के रूप में ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा निर्विवाद रूप से उल्लेखनीय है।

ooo

---

(4) जाबालदर्शनोपनिषद्-1/14

(5) महोपनिषद्-2/39

(6) हंसोपनिषद्-श्लोक 4

(7) महोपनिषद्-6/31,32